



मुनि श्री कल्याणविजयजी गण्डि

जैन श्रमणसंघ की शासनपद्धति

यद्यपि प्रस्तुत लेख में हमें श्रमणसंघ की शासन-पद्धति का ही मुख्यतया वर्णन करना है, तथापि इसके प्रारम्भ में 'जिनशासनपद्धति' का निर्देश करना भी अनिवार्य है, क्योंकि हमारी श्रमण-शासन-पद्धति भी इसी जिन-शासन-पद्धति का विस्तृत रूप है।

जैन सूत्रों में भगवान् महावीर को 'धर्मचक्रवर्ती' कहा है, और वास्तव में वे धर्मचक्रवर्ती ही थे। धार्मिक राज्य की व्यवस्था करने में वे स्वतंत्र और सार्वभौम सत्ताधारी पुरुष थे। लाखों अनुयायियों पर उनका अखण्ड प्रभुत्व था। अनुयायि-गण बड़ी लगन के साथ उनके शासनों का अनुपालन करते थे। उनके शासन भी सांप्रदायिक बाड़े में ढकेलने वाले फतवे नहीं, किन्तु सर्वग्राह्य उपदेशात्मक होते थे।

महावीर मनुष्यों के स्वभाव और उनकी परिस्थितियों के पूर्ण ज्ञाता थे, यही कारण है कि उनके उपदेशों में कठिन से कठिन और सुगम से सुगम सभी तरह के नियमों के पालन का आदेश होता था। इनके मत में 'निर्ग्रन्थ साधु और मोक्ष मार्ग में विश्वास मात्र रखने वाला गृहस्थ' दोनों जैन थे। इस विशाल दृष्टि और उदारता का परिणाम यह था कि लाखों मनुष्य अपनी-अपनी श्रद्धा, भक्ति और शक्ति के अनुसार महावीर के धर्ममार्ग में प्रवृत्ति कर रहे थे।

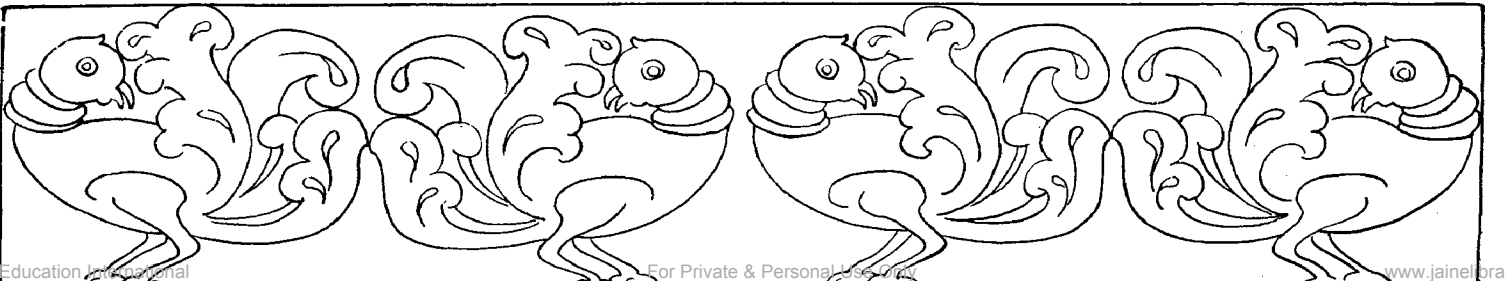
धर्मचक्रवर्ती महावीर के धर्मसाम्राज्य की शासन-पद्धति का इतिहास बहुत बड़ा है। अपने हजारों त्यागी और लाखों गृहस्थ शिष्यों की व्यवस्था के लिये महावीर ने जो नियम बनाये थे, वे आज भी जैन शास्त्रों में संगृहीत हैं।

एक धर्म-व्यवस्थापक अपने अनुयायियों के लिये कौसी सुन्दर व्यवस्था कर सकता है, इस बात को समझने के लिये महावीरप्रणीत 'संघ-व्यवस्थापद्धति' एक मननीय वस्तु है। इस पद्धति का सविस्तार निरूपण करना हमारे इस लेख का विषय नहीं है। यहां पर तो हम इसका दिग्दर्शनमात्र करा के आगे बढ़ेंगे।

महावीर के श्रमणगण—भगवान् महावीर के तमाम साधु नौ विभागों में बाँटे हुए थे। ये विभाग 'गण' अथवा 'श्रमणगण' इस नाम से पहिचाने जाते थे। इन गणों के अध्यक्ष महावीर के प्रथम दीक्षित इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह शिष्य थे जो 'गणधर' कहलाते थे। साधु-साध्वियों की कुल-व्यवस्था इन गणधरों के सुपुर्द थी।

महावीर ने अपने जिम्मे धार्मिक उपदेश, अन्य तीर्थिक तथा अपने शिष्यों की शंकाओं के समाधान और धार्मिक नियम बताना इत्यादि काम रखे थे। शेष सब कार्य प्रायः गणधरों के हवाले रहते थे।

पूर्वोक्त नौ विभाग व्यवस्था-पद्धति के अनुसार बने हुए थे। गुण की अपेक्षा से महावीर के साधु सात विभागों में भी विभक्त थे, जो १—केवली, २ मनःपर्यवज्ञानी, ३ अवधिज्ञानी, ४ वैक्रियद्विक, ५ चतुर्दश पूर्वी, ६ वादी और ७ सामान्य साधु कहलाते थे।



१. केवली अथवा पूर्णज्ञानी साधुओं की संख्या ७०० की थी और इनका दर्जा सर्वश्रेष्ठ था। ये भगवान् महावीर के मुकाबले के ज्ञानी थे। महावीर ने इनकी पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार किया था। ये आत्मध्यान करने के उपरान्त धर्मोपदेश भी देते थे।

२. दूसरे दर्जे के साधु 'मनःपर्यवज्ञानी' याने मनोवैज्ञानिक थे। ये चित्तवृत्ति वाले प्राणियों के मानसिक भावों के ज्ञाता होते थे।

३. अवधिज्ञानी—अथवा, मर्यादित ज्ञानी साधु १३०० थे।

४. चतुर्दशपूर्वी सम्पूर्ण अक्षरज्ञान के पारंगत होते थे और शिष्यों को शास्त्राध्ययन कराते थे।

५. वैक्रियद्विक अथवा योगसिद्धि प्राप्त ७०० साधु थे जो प्रायः तपश्चर्या और ध्यान में मग्न रहते थे।

६. वादी अथवा तर्क और दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा करने वाले ४०० साधु थे, जो अन्य तीर्थियों के साथ चर्चा व शास्त्रार्थ में उतरते और जैनदर्शन के ऊपर होने वाले आक्रमणों का उत्तर देते थे।

७. इस विभाग में शेष तमाम साधु थे, जो विद्याध्ययन, तपस्या, ध्यान और विशिष्ट साधुओं की सेवा-चाकरी करते थे। इस प्रकार महावीर का श्रमणसंघ योग्यता की दृष्टि से और व्यवस्था-पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त हो जाने से उनकी व्यवस्था-पद्धति बड़ी सुगम हो गयी थी। यही कारण है कि महावीर के जीवनकाल में १४०० जितना विशाल श्रमणसंघ एकाज्ञाधीन था। ३० वर्ष के अन्दर सिर्फ दो साधु इस विशाल समुदाय में से महावीर के सिद्धान्त-विशेष के सम्बन्ध में विरुद्ध हुए थे जो 'जमाली' और 'तिष्यगुप्त' इन नामों से जैनशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही महावीर के श्रमण-संघ से बाहर किये गये थे।

भगवान् महावीर करीब ३० वर्ष तक धर्म प्रचार करके ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त हुए थे। इनके ११ गणधरों में से ९ गणधर इनसे पहले ही मुक्ति-लाभ कर चुके थे। गणधरों में सिर्फ 'इन्द्रभूति गौतम' और 'अग्निवैश्यायन सुधर्मा' ये दो ही जीवित थे। इनमें से इन्द्रभूति गौतम को महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि के अंत में केवल ज्ञान हो जाने से वे निवृत्ति परायण हो गये थे। इस कारण महावीर के निर्वाण के बाद सम्पूर्ण श्रमण-संघ के 'प्रमुख' सुधर्मा गणधर बने थे।

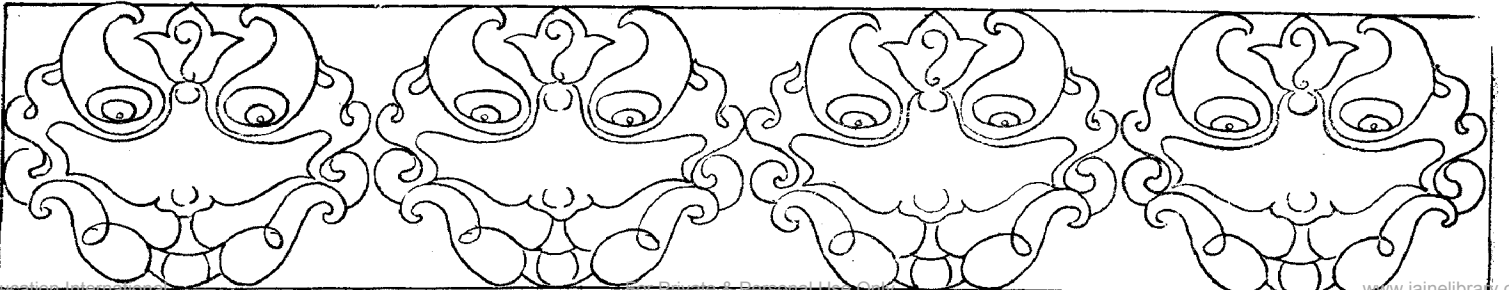
यद्यपि महावीर के जीवनकाल में 'जैन शासन' एकच्छत्र राज्य के ढंग पर ही चलता था, पर उनके निर्वाण के बाद वह स्थिति नहीं रही।

महावीर के निर्वाण के अनन्तर जैन श्रमणसंघ की व्यवस्था के लिए एक 'नवीन शासन-पद्धति' स्थापित हुई थी जिसे 'स्थविरसत्ताक' या 'युगप्रधानसत्ताक' शासन-पद्धति कह सकते हैं। प्रस्तुत लेख में हम इसी शासनपद्धति का दिग्दर्शन कराएँगे।

परिभाषा—शासन-पद्धति का दिग्दर्शन कराने से पहले हम इसके कतिपय अधिकारियों की और उनके अधिकारों की परिभाषायें समझाएँगे। क्योंकि इस शासन के अधिकारी संघ स्थविर-युगप्रधान, आचार्य, उपाध्याय, गणि, प्रवर्तक, गणावच्छेदक, स्थविर इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं, और इनके अधिकार-पद-संघ, गण, कुल आदि भी सुप्रसिद्ध हैं पर इन सबकी परिभाषा क्या है, यह बहुत कम लोग जानते होंगे और जब तक इनकी परिभाषायें जानी नहीं गई तब तक इन अधिकारियों से बनी हुई शासन-पद्धति को समझना कठिन है।

१. कुल—एक आचार्य का शिष्य-परिवार श्रमणपरिभाषा में 'कुल' इस नाम से निर्दिष्ट होता था। इस प्राचीन कुल को आधुनिक जैन परिभाषा में 'संघाडा'^१ कह सकते हैं।

१. 'संघाटक' शब्द का अपभ्रंश 'संघाडा' है, 'संघाटक' का अर्थ जैन सूत्रों की परिभाषानुसार दो (युग्म) होता है परन्तु आधुनिक जैन भाषा में एक आचार्य की शिष्य परम्परा को भी 'संघाडा' कह दिया करते हैं।



२. कुल-स्थविर और उनके अधिकार—उपर्युक्त कुल का प्रमुख आचार्य 'कुलस्थविर' कहलाता था. कुल की व्यवस्था और उस पर शासन करना इस स्थविर के अधिकार में रहता था.

३. गण-समान आचार और क्रियावाले दो से अधिक कुलों की संयुक्त समिति को 'गण' कहते थे.

४. गणस्थविर और उनके अधिकार—उक्त गण का प्रमुख आचार्य 'गणस्थविर' कहलाता था.

गण के शासनविभाग के उपरान्त गण का न्यायविभाग भी इस स्थविर के हाथ में रहता था. अपने गण सम्बन्धी और कभी-कभी दो भागों के बीच होने वाले झगड़ों का निपटारा 'गण-स्थविर' करते थे.

कुल-स्थविरों के कामों पर निगरानी रखना, उनके दिए हुए फैसलों की अपीलें सुनना, संघ-स्थविर की सभा में हाजिर होकर उनमें सलाह देना इत्यादि गणस्थविर के अधिकार के कार्य होते थे.

५. संघ—उपर्युक्त लक्षण वाले सर्व गणों का संयुक्त मंडल 'संघ' इस नाम से पहचाना जाता था.

६. संघ-स्थविर और उसका अधिकार :

उक्त संघ का प्रमुख आचार्य 'संघ-स्थविर' कहलाता था.

प्रमुख की योग्यता से संघ की व्यवस्था करना, गण स्थविरों के दिए हुए फैसलों की अपीलें सुनना और गणस्थविरों की सलाह से संघ की उन्नति के लिये उचित मर्यादा-नियमों का निर्माण करना इत्यादि कार्य संघ-स्थविर के अधिकार में रहते थे.

इनमें 'कुल-स्थविर' और 'गण-स्थविर' तो अपने कुलों और गणों की परम्परा के ही होते थे, परन्तु संघ-स्थविर के लिये ऐसा कोई नियम नहीं था. किसी भी कुछ अथवा गण का हो, जो दीक्षापर्याय, शास्त्राभ्यास, स्थितिप्रज्ञता, न्याय-प्रियता माध्यस्थ आदि प्रमुखोचित गुणों से सबसे अधिक सम्पन्न होता उसी को संघ अपना प्रमुख बना लेता था.

७. युग-प्रधान—जैन-समाज में 'युग-प्रधान' शब्द जितना प्रसिद्ध है उतना ही इसका वास्तविक अर्थ अप्रसिद्ध है.

हमारे बहुतेरे भाइयों का खयाल है कि 'युग-प्रधान' कोई लोकोत्तर पुरुष होता था. जहाँ यह विचरता था वहाँ दुर्भिक्षादि उपद्रव नहीं होते थे. उस भाग्यवान् के कई ऐसे शारीरिक अतिशय होते जो दूसरों में नहीं पाये जाते थे. पर वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है. भद्रबाहु, आर्यमहागिरि और वज्रस्वामी जैसे प्रसिद्ध महानुभाव आचार्यों के समय में ऐसे दुष्कालादि उपद्रव हुए थे जिनका वर्णन करते लेखिनी कांपती है फिर भी पूर्वोक्त महापुरुष युगप्रधान थे, यह बात हम सब मानते हैं.

असल बात तो यह है कि जो आचार्य अपने समय के सर्व आगम-सूत्रों का ज्ञाता और अनुयोगधर होने के उपरान्त विविध देशों की भाषा और शास्त्रों का ज्ञाता, देश देशान्तरों में भ्रमण किया हुआ और शान्ति, दाक्षिण्यादि गुण गण-विभूषित होता वही 'युगप्रधान' (अपने समय का श्रेष्ठ पुरुष) इस अन्वर्थक नाम से संबोधित होता था. इस प्रकार के 'युगप्रधान' एक समय में एक से अधिक भी होते थे, उनमें जो दीक्षापर्याय में बड़ा होता उसे 'संघस्थविर' बनाया जाता था. जब तक संघस्थविर कार्यक्षम होते हुए अपने अधिकार पर कायम रहता तब तक दूसरे युगप्रधान गणस्थविर अथवा कुलस्थविर के ही पद पर बने रहते थे, और वृद्ध संघस्थविर का स्वर्गवास होने पर उनमें जो पर्यायवृद्ध होता वह संघस्थविर बनाया जात था ! इस प्रकार 'युगप्रधान' यह अपने समय के 'सर्वश्रेष्ठ पुरुष' का नाम है.

८. गच्छ—यह 'गच्छ' शब्द पूर्वकाल में ३-४ आदि से लेकर हजारों साधुओं की टुकड़ियों के अर्थ में प्रचलित था. पांच अधिकारियों से बने हुए तथा कालान्तर में गण-व्यवस्थापकमण्डल के अर्थमें प्रचलित हुआ और फिर धीरे-धीरे यह गण का पर्याय बन गया है. १२ वीं शती की सूत्रटीकाओं में उनके रचयिताओं ने 'गच्छ' का अर्थ 'कुलों का समूह' किया है जो तत्कालीन स्थिति के अनुरोध से ठीक कहा जा सकता है सिद्धान्त के अनुसार नहीं.



६. आचार्य—गच्छराज्य का सर्वोपरि शासक पुरुष 'आचार्य' कहलाता था. यह गच्छ का राजा माना जाता था, गणस्थविर ही आचार्य अथवा गच्छाचार्य कहलाता था.

आचार्य संघस्थविर की व्यवस्थापिका सभा का सभासद् गिना जाता था. अथवा यों कहिये कि विशाल राष्ट्र में एक देशपति राजा का जैसा दर्जा होता है, वैसा ही दर्जा स्थविर राज्य में गच्छपति आचार्य का माना जाता था. यह सब होते हुए भी इसकी सत्ता कानूनबद्ध थी. हां, कुछ अनियंत्रित सत्ता भी इसे दी जाती थी कि जिसका उपयोग वह विशिष्ट अवसरों व संयोगों में करता था.

संघ और गच्छ के सामने आचार्य की पूरी जवाबदारी रहती थी. वह कुछ अपराध करता तो सामान्य साधु से भी अधिक दण्ड पाता था.

बार-बार कानून भंग करना, गच्छ के प्रतिकूल चलना, गच्छ की व्यवस्था करने में अयोग्य साबित होना इत्यादि कारणों से आचार्यों को अपने पद तक का त्याग करना पड़ता था.

१०. उपाध्याय—'उपाध्याय' वर्तमान आचार्य का उत्तराधिकारी माना जाता था. इसको जैन-शास्त्रों में 'युवराज' की उपमा दी गई है. सचमुच ही यह पदाधिकारी युवराज की योग्यता रखता हुआ गच्छ के अनेक कार्यों में आचार्य का हाथ बंटाता था. गच्छवासी विद्यार्थी साधुओं को सूत्र पढ़ाना, यह उपाध्याय का मुख्य कर्तव्य होता था.

११. गणि—'गणि' शब्द का प्रयोग कहीं आचार्य के और कहीं उपाध्याय के अर्थ में किया गया है और कहा गया है कि आचार्य अथवा उपाध्याय की गैरहाजिरी में उन दोनों के कार्य 'गणि' चलाता था. यद्यपि गच्छ—व्यवस्थापिका सभा में इसकी कोई खास बैठक नहीं थी, फिर भी आचार्य और उपाध्याय के कार्यों का यह बड़ा सहायक था. इतना ही नहीं बल्कि उनकी गैरहाजिरी में यही आचार्य अथवा उपाध्याय माना जाता था. इस पदधर को आचार्य उपाध्याय का खानगी मन्त्री कह सकते हैं.

१२. प्रवर्तक—प्रवर्तक-गच्छ के बाह्य और आन्तरिक कार्यों का व्यवस्थापक मन्त्री था. बाल, वृद्ध और बीमार साधुओं की देखभाल रखना, अनजान साधुओं को गच्छ और संघ के सामान्य नियमों से वाकिफ कराना और गच्छ में वस्त्र-पात्र आदि जरूरी साधनों का प्रबन्ध करना आदि कार्य इस अधिकारी के सुपुर्द रहते थे. इस पदधर को गच्छराज्य का मन्त्री कह सकते हैं.

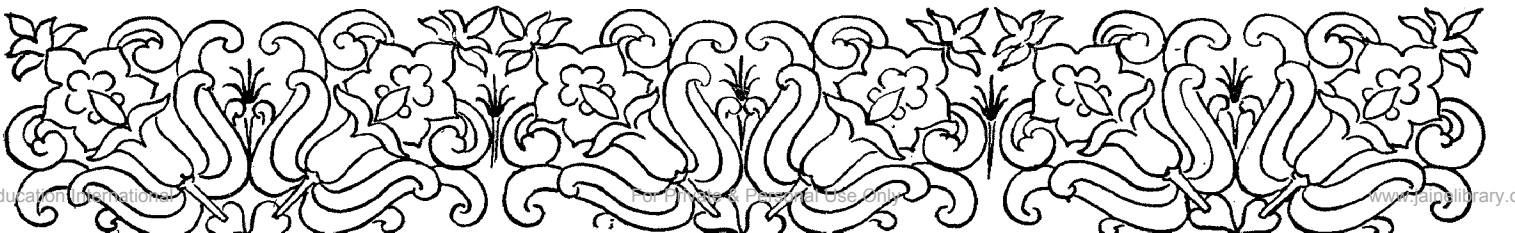
१३. स्थविर—स्थविर पदधर गच्छ का न्यायाधीश था, गच्छ के भीतरी तमाम भगड़ों के फैसले इसी अधिकारी के द्वारा किये जाते थे. गच्छ के सर्वोच्च शासक आचार्य तक को इसके फैसले मंजूर करने पड़ते थे. संघस्थविर की सभा में भी यही स्थविर गच्छाचार्य का प्रतिनिधि बनकर बहुधा जाया करता था.

जो साधु न्यायशील होने के उपरान्त दण्डविधान (छेद) सूत्रों का अच्छा अभ्यासी होता उसी को यह 'स्थविर' पद दिया जाता था.

१४. गणावच्छेदक—गणावच्छेदक का कार्य गण के भिन्न-भिन्न कुलों और शाखाओं के सम्बन्धों को व्यवस्थित रखना गण के साधुओं को भिन्न-भिन्न टुकड़ियों में बांटकर गीतार्थों की देखभाल में विहार कराना, गीतार्थों और उनके आश्रित साधुओं की बदलियां करना इत्यादि कार्य गणावच्छेदक के अधिकार में रहते थे. इस पदस्थ को हम गणराज्य का गृह-मन्त्री कह सकते हैं.

व्यवस्था-पद्धति—श्रमण संघ की व्यवस्था-पद्धति कैसी होगी, इसका कुछ आभास तो ऊपर दी हुई परिभाषाओं से ही हो जाता है, फिर भी अधिक स्पष्टता के लिये हम यहां इस व्यवस्था-पद्धति का कुछ विवेचन करेंगे.

जिस प्रकार एक विशाल राष्ट्र में अनेक 'देश' और देशों में अनेक 'प्रान्त' होते हैं उसी प्रकार हमारे जैन-श्रमणसंघ में अनेक गण और गणों में अनेक 'कुल' होते थे.



जैसे प्रान्त के हाकिम देश के हाकिमों के और देश के हाकिम राष्ट्रपति के मातहत होते हैं वैसे ही कुलों के स्थविर गणस्थविरों के और गणों के स्थविर संघस्थविर के मातहत होते थे.

कुल—स्थविरों का कार्यप्रदेश संकुचित होता था इसलिए वे अकेले ही अपने कुल की व्यवस्था कर लेते थे, परन्तु गण-स्थविरों का कार्यप्रदेश बहुत विस्तृत था. उन्हें अपने-अपने गणों की व्यवस्था तो करनी पड़ती ही थी, साथ ही संघ स्थविर की सभा में हाजिर होकर अथवा प्रतिनिधि भेजकर संघ के कार्य में भी भाग लेना पड़ता था. इस वास्ते गण-स्थविर अपने गण की व्यवस्था के लिये एक व्यवस्थापिका सभा स्थापित करते थे जो 'गच्छ' कहलाती थी. इसके निम्न-लिखित पाँच सभासद होते थे :

१. आचार्य—अथवा प्रमुख.
२. उपाध्याय—अथवा उपप्रमुख.
३. प्रवर्तक—अथवा मंत्री.
४. स्थविर-अथवा न्यायाधीश.
५. गणावच्छेदक—अथवा गृहमंत्री.

गण-सभा अथवा गच्छ के इन पाँच अधिकारियों के जिम्मे क्या-क्या कार्य होते थे इसका निर्देश परिभाषा प्रकरण में कर दिया गया है.

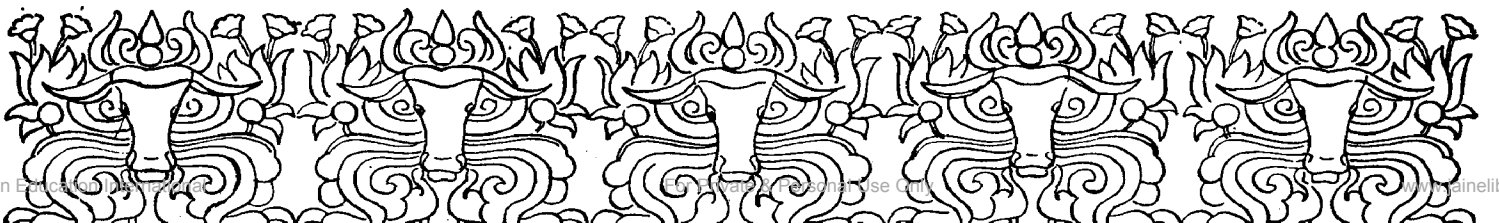
गणों का पारस्परिक सम्बन्ध—सभी गण 'संघ' के 'प्रतिनिधि' होते थे यह बात पहले ही कही जा चुकी है, पर इन गणों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होता था, इस बात का अभी तक विचार नहीं किया.

जहाँ तक हम जानते हैं, महावीर के सभी श्रमणगण आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित थे. वन्दन, भोजन, अध्ययन, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखनादि सभी प्रकार के नित्य-नैमित्तिक-क्रिया-व्यवहार एक दूसरे के साथ होते थे और यह रीति आठवें संघस्थविर स्थूलभद्र तक बराबर चलती रही. पर आर्य स्थूलभद्र के शिष्य आर्यमहागिरि और आर्यमुहस्ती के बीच भिक्षा-विधि के सम्बन्ध में मतभेद होकर एक बार यह आपसी सम्बन्ध टूट गया था, और तब से अन्य गणों में भी असां-भोगिक रीति का प्रचार हुआ. उस समय के बाद समान आचार विचार और क्रिया सामाचारी वाले गण तो एक दूसरे के साथ भोजनादि सामान्य व्यवहार रखते थे. पर जो गण समाचारी में अपने से भिन्नता रखते उनके साथ दैनिक सामान्य व्यवहार नहीं रखते थे. इस प्रकार का संभोग-भोजनादि व्यवहार जिन के साथ होता, वे गण कुल अथवा साधु एक दूसरे के 'संभोगिक' कहलाते थे और शेष 'असांभोगिक.'

सांभोगिक गण एकत्र मिलते तब एक परिवार की तरह सब तरह से एक होकर रहते थे. अपने से बड़ों को सब वन्दन करते थे, एक मंडल में बैठकर भोजन करते थे और साथ ही पठन-पाठन तथा प्रतिक्रमणादि क्रियाएं करते थे. पर असांभोगिक गणों के साथ ऐसा नहीं होता था. असांभोगिक गणों के एकत्र मिलने पर साधु एक दूसरे के गणस्थविर को वन्दन मात्र करते थे और वह भी अपने-अपने आचार्यों को पूजने के बाद. हाँ, अस्वस्थ साधु की सेवा करने के सम्बन्ध में यह 'असांभोगिता' की बाड़ किसी को रोक नहीं सकती थी. बल्कि बीमार की सेवा के विषय में तो यहाँ तक नियम बने हुए थे कि बीमार साधु अपने गण का हो चाहे दूसरे गण का उसकी बीमारी की खबर मिलते ही वैयावृत्य (सेवा) करने वाले साधुओं को उसकी सेवा भक्ति करने को जाना पड़ता था.

गणों के आन्तर नियम—गणों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होते थे, इसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है. अब हमें यह देखना है कि माण्डलिक-राज्यों की भाँति एक दूसरे से सम्बन्धित इन गण-राज्यों के आन्तर नियम अथवा संघ विधान किस प्रकार के होते थे.

यों तो गणों के बीच अनेक छोटी-मोटी नियम-मर्यादाएं पाली जाती थीं, पर उन सबका इस लेख में वर्णन करना शक्य नहीं है. यहाँ तो हम उन्हीं स्थूल नियमों का उल्लेख करेंगे जो प्रत्येक गण को बड़ी सावधानी से पालने पड़ते थे. ऐसे नियमों में निम्नलिखित चार नियम मुख्य थे :



१. क्षेत्रस्वामित्व-मर्यादा २. सचित्तादि परिहार ३. गणान्तरोपसम्पदा ४. साधर्म्यवैधर्म्य-निर्वाह.

१—क्षेत्रस्वामित्व का तात्पर्य यह है कि जिस क्षेत्र में जो कुल अथवा गण विचरता, उस क्षेत्र पर उसी कुल अथवा गण का स्वामित्व माना जाता था. उस समय उस क्षेत्र में क्षेत्र-स्वामी की आज्ञा के बिना दूसरा 'कुल' अथवा 'गण' नहीं रह सकता था.

इस क्षेत्र-स्वामित्व की काल मर्यादा वर्षा काल में श्रावण से कार्तिक तक चार मास की और शेष काल में एक मास की होती थी. यदि इस काल में मर्यादा के उपरान्त प्रथम का 'कुल' 'गण' उस क्षेत्र में रह जाता तो भी उस क्षेत्र पर से उसका स्वामित्व हट जाता था और इस दशा में वहाँ दूसरा कुल गण आकर रह सकता था. तथा वहाँ से उत्पन्न होने वाले सचित्त-अचित्त द्रव्य का हकदार बनता था.

अपने-अपने क्षेत्रों से विहार कर श्रमण गण जहाँ जाते, वे क्षेत्र यदि निर्वाह योग्य होते तो वहाँ मास-मास तक ठहरते हुए आगे जाते थे. किसी के क्षेत्र पर अपना हक जमाने के वास्ते अथवा बड़ा क्षेत्र जानकर वहाँ अपना स्वामित्व स्थापित करने के विचार से योग्य क्षेत्रों को उल्लंघन कर आगे जाने का किसी को भी अधिकार नहीं था.

जिस गांव या नगर में जो 'कुल' या 'गण' चातुर्मास्य रहना चाहता, वह पहले वहाँ के मुखियों को अपना विचार कह देता था और फिर जहाँ कहीं 'संघसमवसरण' होता वहाँ भी वह अपना विचार प्रकट कर देता था कि 'हमने अमुक क्षेत्र में चातुर्मास्य करने का विचार किया है' ऐसा करने से दूसरा कोई भी कुल गण या संघाडा वहाँ चातुर्मास्य करने को नहीं जाता था. यदि किसी को खबर न होने से जाता भी तो वहाँ के गृहस्थ कह देते थे कि 'यहाँ पर अमुक गण अथवा कुल चातुर्मास्य करने वाला है.'

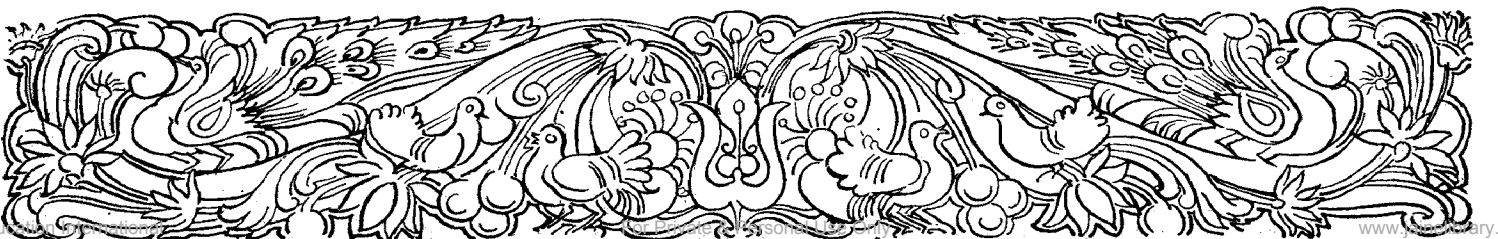
जिन प्रतिष्ठा यात्रादि निमित्त, अथवा संघ सम्बन्धी कार्य के निमित्त जिस क्षेत्र में 'संघ-समवसरण' होता (संघ एकत्र होता) वह क्षेत्र साधारण माना जाता. जब तक वहाँ रहता, तब तक उस क्षेत्र पर किसी भी कुल या गण विशेष का स्वामित्व नहीं माना जाता था.

२—सचित्तादि परिहार का अर्थ यह है कि जिस क्षेत्र में सचित्त-दीक्षा लेने वाला मनुष्य और अचित्त-वस्त्र पात्र आदि जो द्रव्य उत्पन्न होते उसका स्वामी क्षेत्र स्वामी होता था. अन्य स्वामि के क्षेत्र में आने वाला कोई भी अन्य साधु वहाँ उत्पन्न होने वाले सचित्तादि द्रव्यों का अधिकारी नहीं होता था.

जिसके उपदेश से जो मनुष्य सम्यक्त्व (जैन दर्शन) प्राप्त करता, वह यदि तीन वर्ष के भीतर साधु होना चाहता तो अपने प्राथमिकोपदेशक गुरु का ही शिष्य हो सकता था. इसी प्रकार कोई साधु उत्प्रव्रजित हो गृहस्थाश्रम में जाकर फिर तीन वर्ष के अन्दर साधु होना चाहता तो अपने पहले गुरु के पास ही दीक्षा ले सकता था, परन्तु तीन वर्ष के बाद उपर्युक्त दोनों प्रकार के पुरुषों के ऊपर से मूल गुरुओं का अधिकार रद्द हो जाता था, और वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जिसके पास दीक्षा ग्रहण कर सकता था.

३—गणान्तरोपसंपदा—का अर्थ है दूसरे गण का स्वीकार. सामान्यतया एक गण का साधु दूसरे गण में जा नहीं सकता था, पर यदि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की विशेष आराधना के लिये अथवा तपस्या तथा वैधावृत्त्य करने के निमित्त अन्यगण में जाना चाहता तो पहले अपने गण के आचार्य की आज्ञा प्राप्त करता और फिर अभिप्रेत गण के आचार्य के पास जाकर अपने को गण में लेने के लिए उनसे प्रार्थना करता.

आगन्तुक साधु की प्रार्थना सुनने के बाद गण-स्थविर इस बात की जांच करते कि आगन्तुक श्रमण वास्तव में अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त करके आया है या नहीं और जिस कारण से वह अपना आगमन बताता है वह कारण भी वास्तविक है या नहीं ? यदि इन बातों की परीक्षा से गणस्थविर को संतोष मिल जाता तो वे आगन्तुक साधु को उपसंपदा देकर अपने गण में दाखिल कर लेते थे.



पहले के कुल, गणों का सम्बन्ध विच्छेदकरण पूर्वक आगन्तुक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता—‘आज से ये कुल-गण मेरे ही कुल गण हैं और इन कुल गण के आचार्य उपाध्याय ही मेरे आचार्य उपाध्याय हैं.’

उपसंपद्यमान साधु की उक्त प्रतिज्ञा को ही ‘उपसंपदा’ कहते थे. इस उपसंपदा की काल-मर्यादा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से क्रमशः छह मास बारह वर्ष और जीवन पर्यन्त की होती थी.

जघन्य और मध्यम काल की उपसंपदा वाले साधु मियाद पूरी होने पर अपने पहले गुरु के पास चले जाते थे, पर उत्कृष्ट कालीन उपसंपदा वाले श्रमण जीवन पर्यन्त उसी कुल गण में रहते थे.

गणान्तरोपसंपदा लेने के बाद उस साधु को अपने पहले गुरु और गण की सामाचारी का त्याग और नये गण की सामाचारी का पालन करना पड़ता था.

उपसंपदा के विषय में कई अपवाद भी रहते थे. यदि कोई गण बिल्कुल शिथिलाचार में फंस जाता और आचार्य उसका उद्धार नहीं करता अथवा आचार्य स्वयं ही शिथिलविहारी हो जाता तो उस गण के जो संयमार्थी साधु होते, वे उस गण और गुरु का सम्बन्ध छोड़कर दूसरे चारित्रधारी गण में चले जाते थे और इस प्रकार शिथिलमार्ग को छोड़कर आने वाले आत्मार्थी साधुओं को उनके मूल गुरु की आज्ञा के बगैर भी उपसंपदा दे दी जाती थी.

४—साधर्म्य वैधर्म्य निर्वाह का मतलब सांभोगिक और असांभोगिक साधुओं की पारस्परिक रीतियों से हैं.

अपने क्षेत्र में सांभोगिक गण के साधुओं के आने पर उनके प्रति तीन दिन तक आतिथ्य व्यवहार किया जाता था, आगन्तुक साधुओं के लिये तीन दिन तक भिक्षा वगैरह क्षेत्री (स्थानिक) साधु लाते थे. यदि आगन्तुक गण बड़ा होता और स्थानिक समुदाय छोटा होता अथवा ऐसा कोई कारण होता कि जिससे सर्व कार्य करना स्थानिक साधुओं के लिये कठिन हो जाता तो आगन्तुक गण में जो युवा और समर्थ साधु होते उनकी भी थोड़ी मदद ली जाती थी, पर बाल और बृद्ध साधुओं से तो तीन दिन तक कुछ भी मेहनत का काम नहीं लिया जाता था.

इसी प्रकार असांभोगिक गण के अपने क्षेत्र में आने पर भिक्षाचार्या में उनके साथ जाना, उनको स्थापना-कुल वगैरह का परिचय देना, आदि आवश्यक व्यवहार का निर्वाह करना पड़ता था.

सांभोगिक गणों में तो एक सामाचारी होने से सामाचारी-भेद सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित ही नहीं होते थे, पर असांभोगिक गणों की सामाचारी के सम्बन्ध में कभी-कभी चर्चा चलती भी थी तो उस पर समभाव से विचार किया जाता था और जिस विषय में जिस गण अथवा कुल का जो मन्तव्य होता उसका उसी रूप में निर्देश करके शिष्यों को समझाया जाता कि ‘इस विषय में अमुक कुल अथवा गण वाले ऐसा मानते हैं’ अथवा ‘इस सम्बन्ध में अमुक ‘आचार्य का यह मत है.’

व्यवहारछेदन—‘व्यवहार’ का अर्थ है ‘मुकद्मा’ और ‘छेदन’ का तात्पर्य है फँसला’.

श्रमणगणों में दो प्रकार के व्यवहार होते थे—‘प्रायश्चित्तव्यवहार’ और ‘आभवद्व्यवहार.’

साधु लोग अपने मानसिक, वाचिक और कायिक अपराधों के बदले जो आचार्य द्वारा सजा (दण्ड) पाते थे उसका नाम ‘प्रायश्चित्त-व्यवहार’ है. इस व्यवहार के महावीर के समय में—१—आलोचना २—प्रतिक्रमण ३—मिश्र ४—विवेक ५—उत्सर्ग ६—तप ७—छेद ८—मूल ९—अनवस्थाप्य और १०—पाराञ्चित ऐसे दस प्रकार थे, जो आर्य भद्रबाहु पर्यन्त चलते रहे. भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद प्रायश्चित्त का ९ वां और १०वां भेद बन्द कर दिया गया और तब से प्राथमिक ८ प्रायश्चित्तों का ही व्यवहार प्रचलित है.

‘आभवद्व्यवहार’ का अर्थ है ‘हकदारी का भगड़ा’. इस व्यवहार के भी अनेक प्रकार होते थे जैसे सचित्त व्यवहार, अचित्त व्यवहार, मिश्र-व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, इत्यादि.

उपर्युक्त दो प्रकारों में से पहला व्यवहार तो बहुधा अपने-अपने स्थविरों के निकट ही चलता था. कुल के साधु अपने-अपने कुल के स्थविर से प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लिया करते थे, पर छेद अथवा मूल जैसे मामलों का फँसला



बहुधा 'गणस्थविर' देते थे. अथवा 'कुलस्थविरो' के इन विषयों में दिए हुए फैसलों की अपील सुनते थे. यदि गणस्थविर को कुलस्थविर के कार्य में पक्षपात अथवा रागद्वेष नजर आता तो तुरन्त वे उसको रद्द कर देते थे. गणस्थविरो के इस व्यवहारविषयक फैसलों की अपील संघस्थविर नहीं सुनता था, कारण कि प्रायश्चित्त-व्यवहार गणों का भीतरी कार्य माना जाता था. संघस्थविर किसी भी गण के किसी भी प्रकार के भीतरी कार्य में तब तक दखल नहीं देता था, जब तक कि वैसा करने के लिए गण की तरफ से उसे अर्ज नहीं की जाती. 'आभवद्व्यवहार' का कानून इससे कुछ भिन्न था. इस व्यवहार के लिये कुल, गण और संघ नामक क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे दर्जे के न्यायालय थे.

एक ही कुल के दो संघाडों के बीच यदि हकदारी सम्बन्धी कुछ व्यवहार उपस्थित होता तो कुल स्थविर की तरफ से उसका निपटारा किया जाता था और एक गण की दो शाखा या दो कुलों के बीच कुछ व्यवहार खड़ा होता तो गणस्थविर उसका फैसला देता था.

इसी प्रकार दो गणों के बीच व्यवहार उपस्थित होने पर किसी तीसरे गणस्थविर के द्वारा उसका निर्णय कराया जाता था, पर मध्यस्थ गणस्थविर यदि मध्यस्थता खोकर किसी एक पक्ष की तरफ झुक जाता तो न्यायाधी 'संघसमवाय' करने के वास्ते 'संघप्रधान' को अर्ज करता और संघप्रधान संघसमवाय सम्बन्धी उद्घोषणा करता. संघसमवाय होने सम्बन्धी उद्घोषणा सुनकर सब संघप्रतिनिधि नियत स्थान और समय पर जाते और संघस्थविर भी वहां जाता और उपस्थित व्यवहार की सुनवाई में लग जाता. पहले वह सभा में बैठकर मध्यस्थ गणस्थविर की कार्यवाही सुनता. वहाँ मध्यस्थ स्थविर पक्षपात से शास्त्र-विरुद्ध भाषण करता तो वहां उसे अन्योक्ति से टोकता. यदि वह स्थविर अपनी भूल को कबूल कर लेता तब तो उसे माफी दी जाती थी, पर यदि वह अपना आग्रह नहीं छोड़ता अथवा वह ऐसा अपराध करता जो क्षमा योग्य नहीं होता तो उसकी दीक्षा काट दी जाती और उपस्थित व्यवहार का फैसला संघस्थविर देता जो सर्व संघ को मंजूर करना पड़ता था. यदि व्यवहारच्छेदन के लिये एकत्र मिले हुए संघसमवाय में किसी कारणवश प्रतिवादी हाजिर नहीं होता तो उसे संघ की तरफ से बुलावा भेजा जाता, पहले और दूसरे बुलावे पर यदि वह आ जाता तब तो ठीक, नहीं तो तीसरी बार गणावच्छेदक उसे बुलाने के लिये जाता.

प्रतिवादी के पास जाने पर यदि गणावच्छेदक समझता कि प्रतिवादी भय का मारा नहीं आता है तो उसे समझाता— 'आर्य' संघ पारिणामिक बुद्धि का धनी है, उसको न किसी का राग है, न द्वेष. भगड़े की असलियत समझने के बाद विवादापन्न वस्तु पर किस का हक है सो संघ अपने निर्णय में बतायेगा.

यदि प्रतिवादी औद्धत्य अथवा शठता के कारण संघसम्मेलन में आने से इन्कार करता तो वह संघ से बाहर कर दिया जाता था, परन्तु प्रतिवादी अगर अपनी भूल अथवा शठता के बदले में पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ संघ से माफी मांगता हुआ आजीजी करता तो फिर भी संघ उसको माफ करके संघ में दाखिल कर लेता और तब वह प्रतिवादी संघ से कहता— 'संघ सर्व प्राणियों का विश्वासस्थान है. भय-भीतों के लिये संघ ही आश्वासन देने वाला है. संघ माता-पिता तुल्य होने से किसी पर विषमता नहीं करता. संघ की सब के ऊपर समदृष्टि है. संघ सब के लिये अपना पराया जैसी कोई चीज नहीं है. संघ किसी का पक्षपात नहीं करता.'

इस प्रकार संघ के न्याय और ताटस्थ्य पर प्रतिवादी के श्रद्धा प्रकट करने पर संघ उस भगड़े का फैसला देता था. संघ का फैसला आखिरी होता था. उसकी कहीं भी अपील नहीं हो सकती थी.

उपसंहार—श्रमणसंघ की शासन-पद्धति का इतिहास बहुत लम्बा है. इसका सम्पूर्ण निरूपण एक लेख में क्या, एक ग्रन्थ में भी किया जाना अशक्य है. फिर भी इसकी मौलिक बातों का दिग्दर्शन हमने इस लेख में करा दिया है. पाठक गण देखेंगे कि हमारे प्राचीन श्रमणसंघ की शासनव्यवस्था का इतिहास कैसा मनोरंजक और अनुकरणीय है.

आशा है, हमारा आधुनिक 'श्रमणसंघ' अपने पूर्वाचार्यों की इस व्यवस्थित शासन-पद्धति का अनुसरण करके अपनी वर्तमान शासनप्रणाली को व्यवस्थित बनायेगा.

